॥ ओ३म् ॥

छः वैदिक दर्शनों का मतैक्य है

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

1996

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान

नई दिल्ली-२

॥ ओ३म् ॥

छः वैदिक दर्शनों का मतैक्य है

लेखक :—
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

१९९६

—: प्रकाशक :—
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली-२

मूल्य २ रुपये

आर्य समाज स्थापना शताब्दी ग्रन्थ

प्रकाशक—
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली-२

मूल्य २) रुपये मात्र

मुद्रक—
सार्वदेशिक प्रेस
पटौदी हाउस, दरियागंज
नई दिल्ली-२

॥ ओ३म् ॥

छः वैदिक दर्शनों का मतैक्य है

(परस्पर विरोध नहीं)

महादार्शनिक महर्षि दयानन्द की यह स्थापना है कि प्रक्रिया का भेद होते हुए भी छः दर्शनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। इनमें पूर्णतः समन्वय पाया जाता है। महर्षि की इस स्थापना का प्रचार तो आर्यसमाज करता रहा है, परन्तु इस दिशा में कार्य कुछ भी नहीं हुआ है। विपक्षियों ने जितना अधिक कार्य गत कई वर्षों में पूर्वपक्षीय सामग्री के प्रस्तुत करने में किया है उसका न्यूनतम भाग भी अपनी तरफ से उत्तर देने में नहीं किया गया है। दो एक छोटी पुस्तकें षड्दर्शनों के समन्वय विषय को लेकर लिखी गई परन्तु उनके समन्वय की प्रक्रिया व प्रकार ऋषि प्रदर्शित प्रकार से कुछ थोड़ा सा भिन्न रहा जब कि उनकी उपादेयता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दर्शनों के समन्वय का सफल प्रकार यदि कोई हो सकता है तो ऋषि प्रदर्शित प्रकार ही हो सकता है, अतः इस विषय में आगे चलने से पूर्व ऋषि के प्रकार को यहां पर दिखलाना सर्वथा ही उचित है—क्योंकि वही इस मार्ग पर अग्रसर होने का परम और मौलिक आधार है। महर्षि ने पूर्व पक्ष उठाकर समाधान करते हुए दो स्थलों पर सत्यार्थ प्रकाश में इस पर प्रकाश डाला है। प्रथम स्थल सत्यार्थ प्रकाश का तृतीय समुल्लास है और द्वितीय स्थल इसी ग्रन्थ का अष्टम समुल्लास है। प्रथमः स्थल का वर्णन सृष्टि-रचना प्रकरण की प्रस्तावना पर आधारित है। परन्तु समन्वय का जो सूत्र ऋषि ने दिया है वह दोनों स्थलों पर सृष्टि प्रकारण के तर्क को लेकर ही है। महर्षि के वाक्य क्रमशः निम्न प्रकार हैः—

(१) प्रश्न—जैसे सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टि विषय में छः शास्त्रों का विरोध है —मीमांसा कर्म, वैशेशिक काल, न्याय परमाणु योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है--क्या यह विरोध नहीं ?

उत्तर—प्रथम तो बिना सांख्य और वेदान्त के दूसरे शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध नहीं क्योंकि तुमको विरोधा-विरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूं कि विरोध किस स्थान में होता है—क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

(२) प्रश्न—एक विषय में अनेकों का विरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं —यहां भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है या दो ? एक है। जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों है, जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं है—जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग आदि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण है वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, और तत्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यक शास्त्र निदान, चिकित्सा, औषधिदान और पथ्य प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित

परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छहै कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्र ने की है, इसलिए इनमें कुछ विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि प्रकरण में करेंगे।

सत्यार्थ प्रकाश तीसरा समुल्लास।

(३) प्रश्न—जो अविरोधी हैं तो.....
मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

उत्तर—इनमें सब सच्चे हैं, कोई झूठा नहीं।.....
परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छः शास्त्रों का अविरोध देखो जो इस प्रकार है:—मीमांसा में ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कोई कर्म चेष्टा न की जाय, वैशेषिक में समय लगे बिना बने ही नहीं, न्याय में उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता, योग में विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता, सांख्य में तत्वों का मेल न होवे से नहीं बन सकता, और वेदान्त में बनवे वाला न बनावे तो कोई पदार्थ उत्पन्न न हो सके। इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। इनः छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास।

यहां पर महर्षि के दोनों स्थलों का विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है:—

३–एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होने का नाम विरोध है। परन्तु दर्शनों में प्रक्रिया की भिन्नता होने पर भी ऐसा विरोध नहीं।

२–सृष्टि रचना का प्रसिद्ध वर्णन केवल सांख्य और वेदांत में हैं, शेष चार में प्रसिद्ध वर्णन न होकर प्रासंगिक वर्णन हैं। समन्वय करते समय सृष्टि के विषय को लेकर ही समन्वय करना चाहिए क्योंकि पूर्व पक्ष इसका स्पर्श करते हुए ही उठाया जाता है।

३–दर्शन के मुख्य विषय का तो इनमें विरोध है ही नहीं, सृष्टि की रचना के विषय में जो विरोध लोगों को दिखलाई पड़ता है वह भी नहीं है।

४–छः दर्शन सृष्टि के छः कारणों की व्याख्या करते हैं और वे हैं—कर्म, काल उपादान, पुरुषार्थ, तत्वों का परस्पर मेल (संयोग) और ब्रह्म अर्थात् निमित्त कारणभूत कर्त्ता।

यहां पर इन्हीं आधारों को दृष्टिपथ में रखते हुए छः दर्शनों में परस्पर विरोध है वा नहीं—इसका विचार किया जाता है। छः दर्शनों में एक विषय पर होने वाला परस्पर विरोध नहीं पाया जाता है। जहां कहीं पर ऐसा आभास मिलता है, जिस-जिस पर पूर्वपक्षी अपना विचार स्थापित करते हैं उनका विचार यहां पर करना अपेक्षित है। वैशेषिक द्रव्य गुण का पृथक् वर्णन है। द्रव्य वह है जो क्रिया वाला, गुण वाला, अथवा समवायिकारण हो। गुण द्रव्य के आश्रय से रहता है, परन्तु गुण में नहीं रहता। द्रव्य द्रव्य का आरम्भक है और गुण गुण का। केवल द्रव्य से गुण की उत्पत्ति नहीं और केवल गुण से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

परन्तु सांख्य में सत्व, रजस् और तमस् को गुण कहा जाता

है और इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति जब तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है तो फिर गुण रूप होने से उससे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु सांख्य में प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थ द्रव्य भी हैं। यहां एक विषय में होने वाला विरोध नहीं तो फिर क्या है ?

इसका समाधान यह है कि सांख्य में सत्व, रजस् और तमस् जिन तीन गुणों का वर्णन है वे केवल गुण नहीं बल्कि वैशेषिक के लक्षण वाले गुण और द्रव्य दोनों हैं, अतः प्रकृति सत्वरजस्तमो गुणों की द्रव्यभूत वस्तु है। उसके द्रव्य तत्व से द्रव्य और गुण से गुण का आरम्भ होता है। गुण नाम रस्सी का है। पुरुष के बन्धन का हेतु बनने से उनमें गुण पद का व्यवहार होता है। वस्तुतः ये गुण और द्रव्य दोनों हैं। इस प्रकार वैशेषिक और सांख्य का भेद नहीं। सांख्य में इन सत्व, रजस्, तमस् के भी लघुत्वादि धर्म माने गये हैं जो यह सिद्ध करते हैं[1] कि ये गुण युक्त द्रव्य हैं।

न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और योग-शास्त्र में परमेश्वर को जगत् का कर्ता एवं निमित्त कारण माना गया है परन्तु सांख्य में उसके अस्तित्व में ही प्रमाण का अभाव माना गया है तथा उसका कारणत्व अस्वीकृत किया गया है। इसका समाधान यह है कि सांख्य सूत्रों में कहीं पर ईश्वर के होने का निषेध नहीं है। उसे केवल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना गया है। सांख्य में ईश्वर की सर्ववित् और सर्वकर्त्ता[2] स्वीकार किया गया है। प्रकृति को उसके अधीन परतन्त्र माना गया है

१–लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥ सां० १।१२८
२–सहिसर्ववित् सर्वकर्त्ता,

और समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्मरूपता[1] को भी मन्तव्य रूप में दिखलाया गया है। सांख्य दर्शन के पांचवें अध्याय में जहां[2] पर ईश्वर के कारणत्व का खण्डन है वहां पर केवल उसके उपादान कारणत्व का निषेध किया गया है, निमित्त कारणत्व का नहीं। कोई भी शास्त्र परमेश्वर को उपादान मानता ही नहीं। फिर विरोध का प्रश्न ही शेष नहीं रह सकता है।

सांख्य दर्शन में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनसे यह आभास मिलता है कि न्याय और वैशेषिक का उनमें खण्डन किया गया है। उदाहरण के रूप में सांख्य दर्शन के पांचवें अध्याय के ८५वें सूत्र से ९०वें सूत्रों तक को तथा ९९ सूत्र को लिया जा सकता है। इनमें क्रमशः पदार्थषट्कत्व, पदार्थषोडशकत्व, अणुनित्यता, परिमाण के चातुर्विध्य और समवाय आदि का खण्डन प्रतीत होता है। परन्तु विचार करने पर यह खण्डन नहीं खण्डनाभास मालूम पड़ता है। सांख्य में षट पदार्थ और षोडशपदार्थ की प्रक्रिया एवं सिद्धान्त का खण्डन नहीं है बल्कि षट्पदार्थ और षोडशपदार्थ के ही ज्ञान से मुक्ति हो सकती है—ऐसा ही नियम है, इस विचार का खण्डन है। वैशेषिक और न्याय में ऐसा एक मात्र नियम निर्धारित नहीं किया गया है कि मुक्ति षट् और षोषशपदार्थ के ज्ञान से ही हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती। षट् औ षोडश पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष हो सकता है

१—समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। सां० ५। ११६

२—प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्ति, सत्तामात्राच्चेत् सर्वेश्वार्थसु प्रमाणाभावान्न, तत्सिद्धिः, सम्बन्धाभावान्नानुमानम्, श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ सा० ५। ८

और अन्य दर्शनों में बताये प्रकार से भी। न्याय में तो स्वयं ही पदार्थों के संख्यैकान्तवाद का खण्डन[1] है। अणु की नित्यता के खण्डन से परमाणुओं के नित्यत्व का प्रत्याख्यान भी सांख्य-कर्ता को अभिप्रेत नहीं। सांख्यकार ने प्रधान की वृत्ति को भी अणुवत् माना है। यदि वह अणुओं का खण्डन करता तो फिर दूसरे स्थान पर उन्हें स्वीकार क्यों करता[2]। सांख्यकार ने वस्तुतः परमाणुओं का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने परमाणुओं की कूटस्थनित्यता का खण्डन किया है। महर्षि व्यास के शब्दों में नित्यता दो प्रकार की होती है—परिणामिनित्यता और कूटस्थनित्यता[3]। जो वस्तु उपादान कारण होगी (चाहे वह प्रकृति हो अथवा परमाणु हों) उसको नित्यता परिणामी नित्यता होगी, कूटस्थनित्यता नहीं। कूटस्थनित्यता केवल आत्मा और परमात्मा की है। इसी प्रकार सूक्ष्मता के विषय में भी समझना चाहिए। उपादान कारणों की सूक्ष्मता अन्वयी-सूक्ष्मता अर्थात् कार्य की अपेक्षा से सूक्ष्मता है। प्रकृति और परमाणु की सूक्ष्मता कार्य की वह पराकाष्ठा है जिससे बढ़कर

१—संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्। न्या०। ४। १। ४१॥

२—आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्। सां० १। ७४॥
पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत्, गतियोगेऽप्याद्यकारणता-हानिरणुवत्। सां० ६। ३५, ३७॥

३—द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। यो० भा० ४। ३३॥ ऐसा ही महाभाष्य में भी है।

फिर वह सूक्ष्म नहीं हो सकता है। यह अवस्था प्रकृति[1] की है और परमाणुओं की है। जहां पर अन्तर[2] बाहर आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता और जो विभागानर्ह है उसे ही न्याय और वैशेषिक में परमाणु कहा गया है। यह परमाणु की अन्तिम अवस्था प्रकृति में परिसमाप्त है। सांख्यकार ने भूततन्मात्रारूपी अणुओं को अनित्य माना है। वैशेषिकोक्त पराकाष्ठा के अपकर्ष को प्राप्त परमाणुओं को नहीं। अनन्वयीय अर्थात् स्वाभाविकी सूक्ष्मता आत्मा और परमात्मा की है। अन्वयी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा प्रकृति एवं परमाणु में है।

सांख्य अणु, महत् और विभु परिमाण से ही कार्य चल जावेगा, ऐसा स्वीकार करता है, अतः ह्रस्व और दीर्घ को इनके ही अन्तर्गत मान लेता है। वैशेषिक चारों का वर्णन करता है। यह वस्तुतः खण्डन नहीं है। सामान्य को सांख्यकर्ता ने (सा० ५। ९१-९२) स्वीकार किया ही है। समवाय का भी सांख्य में खण्डन नहीं समझना चाहिए। सांख्य का यह सिद्धान्त है कि कार्यसत्ता कारण में सत्तारूप से विद्यमान रहती है। उत्पत्ति केवल कार्य के वर्तमानावस्था में आने एवं अभिव्यक्ति को कहा जाता है। कार्य का यह अभिव्यक्त रूप इसी रूप में कारण में नहीं रहता है। अतः सत्ता रूप में विद्यमान कार्य का कारण से समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) तो हो

१—न चालिंगात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति, सत्यं यथा लिंगात् परमलिंगस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य किन्तु लिंगस्य अन्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ यो० १। ४५॥

२—अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्येत्यादि। न्या० ४।२।२०॥

सकता है परन्तु कार्य के अभिव्यक्त प्रकार का जो देश और काल से परिछिन्न है अपने कारण के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी समवाय का सांख्य में खण्डन है, वैशेषिकोक्त समवाय का नहीं। क्योंकि वैशेषिक में कहीं भी कार्य के वर्तमान रूप के साथ कारण का समवाय सम्बन्ध नहीं बतलाया है। सामान्य, विशेष और समवाय आदि अपेक्षा बुद्धि से परिज्ञात होते हैं। अतः अनपेक्षा बुद्धि के विषय भूत साम्यावस्थापन्न प्रकृति में इनका परिज्ञान नहीं होता है— इस बात को दर्शाने के लिए सांख्य ने समवाय का स्पष्टीकरण किया है।

न्याय और वैशेषिक इन्द्रियों को भूतजन्य मानते हैं क्योंकि जिस भूत से जो इन्द्रिय उत्पन्न होती है वह उसी के गुण से युक्त पदार्थ को देखती है। सांख्य ने इन्द्रियों का अहंकार को कारण माना है। इससे परस्पर विरोध मालूम पड़ता है। परन्तु इसमें भी विरोध की स्थिति नहीं। इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भेद से दश हैं। यह सांख्य का सिद्धान्त है। न्याय में विशेषतया पंच ज्ञानेन्द्रियों पर विचार किया गया है। मन को पृथक् माना गया है। इन्द्रियां अपने भूतों के गुणों को देखती हैं अतः एक इन्द्रिय दूसरे के विषय में नहीं देखती है। इन दोनों सिद्धान्तों को विचारने पर पता चलता है कि इन्द्रियों में भौतिकता व अभौतिकता दोनों हैं। इन्द्रियभूतों में विद्यमान रूप आदि गुणों के ग्रहण की जो शक्ति रहती है वह भौतिक धर्म है। परन्तु गुणों का इनसे प्रत्यक्ष होने पर भी द्रव्य, संख्या जाति और अभाव आदि का प्रत्यक्ष मन से होता है। जब कि ये अपने-अपने ही विषयों को जान सकती हैं और साथ ही मन कर्मेन्द्रिय का कार्य भी करता है। मन के सम्पर्क से होने वाला

इन्द्रियों का कार्य भौतिक धर्म नहीं है। यह शक्ति धर्म है जो मन और अहंकार के सम्बन्ध से इनमें हैं। मन का उभयात्मकत्व और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के विषय के ग्रहण करने में उसकी क्षमता यह सिद्ध करती है कि उसमें अहंकारिक धर्म[1] है। अन्यथा वह भी एक ही विषय के ज्ञान से बंधा रहता। सांख्य ने मन को इन्द्रियों को भूतों से मानकर मन को पृथक् माना है। अतः सांख्य का दृष्टिकोण मन को इन्द्रिय मानकर उसके भौतिकता का खण्डन है, यदि सबको भौतिक माना जाता तो मन को भी भौतिक मानना पड़ता जो सम्भव नहीं। सांख्य ने अपने मत के स्पष्टीकरण के लिए यह दिखाया है कि इन्द्रियां एकांततः भौतिक ही हों—यह सिद्धांत नहीं है वे आहंकारिक भी हैं क्योंकि मन का भी उनमें सन्निवेश हैं। न्याय और वैशेषिक को इन्द्रियों का जो भौतिकत्व अभिप्रेत है उसका सांख्य ने खण्डन नहीं किया है। उसने केवल अपनी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किया है।

इसी प्रकार वेदांत शास्त्र में सांख्य और न्याय, वैशेषिक आदि का खण्डन दिखलाई पड़ता है वह केवल आभासमात्र का खण्डन है, वास्तविक खण्डन नहीं। व्यास को इतना ही कहना अभिप्रेत है कि बिना निमित्त कारण परमेश्वर को स्वीकार किये जड़ प्रकृति एवं परमाणु जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि उनमें ज्ञान और क्रिया का अभाव[2] है। परन्तु ये जगत्

१—न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रयाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥ सां ५।८४॥
२—ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ वे० १।१।५ ॥
रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम् ॥ वे० २२।१॥
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ वे० २।२।११-१२,१३॥

के कारण नहीं अथवा उपादान नहीं है, व इनकी सत्ता, नहीं है, यह वेदांत-शास्त्रकर्त्ता को अभिप्रेत नहीं हैं। सांख्य न्याय आदि में कहीं पर भी विना परमेश्वर की निमित्तता के प्रकृति अथवा परमाणु आदि से जगत् की रचना का वर्णन नहीं है। अतः वेदांत में इन दर्शनों का खण्डन नहीं। केवल ब्रह्मरूपी निमित्त कारण की उपादेयता को सिद्ध करने का यह प्रयास[1] है।[2] वेदांत २।१।१२ से ३ योग और वैशेषिक आदि का खण्डन नहीं है। उससे अन्य आचार्यों के उन सिद्धांतों का खण्डन है जो ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता नहीं स्वीकार करते हैं।

सृष्टि रचना के प्रकरण को ही बहुधा दर्शनों के विरुद्ध बतलाया जाता है। आचार्य दयानन्द का कथन यह है कि सृष्टि का वर्णन मुख्यतः सांख्य और वेदांत में ही पाया जाता है शेष चार में तो प्रासंगिक वणन है। सांख्य में प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर तीन तत्वों को अनादि मानकर सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन किया गया हैं। परमात्मा सर्ववित् और सर्वकर्त्ता है। प्रकृति उसके अधीन है। जीव भी अनेक हैं और और नित्य हैं परन्तु उनके भोग आदि की व्यवस्था परमात्मा के द्वारा होती है। परमात्मा की निमित्तता से प्रकृति में क्षोभ होकर उसकी साम्यावस्था भंग होती है। तत्पश्चात् उससे महत्तत्व, पुनः उससे अहंकार और अहंकार से एक तरफ पंचतन्मात्राओं दूसरी तरफ मन सहित एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। पंचतन्मात्राओं से पांचभूत और उनसे पुनः शरीरादि कार्य पदार्थ और विविध सृष्टि पदार्थों की रचना

१—एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ वे० २।१।३ ॥

२—एतेन शिष्टाः परिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ वे० २।१।१२ ॥

होती[1] है। वेदांत दर्शन में भी ईश्वर जीव और प्रकृति को अनादि माना गया[2] है। ब्रह्म की निमित्ता से प्रकृतिरूपी उपादान में क्षोभ होकर जगत् उत्पन्न होता है। वेदांत का क्रम भी वही है जो सांख्य का क्रम है। सृष्टि की रचना का सांख्य का क्रम इतना प्रसिद्ध और वैज्ञानिक है कि वही सर्वत्र स्वीकार किया गया है। अतः इससे किसी प्रकार के मत-भेद का प्रश्न ही नहीं उठता है।

एक झगड़ा पूर्वपक्षी लोग यहां पर उत्पत्ति की प्रक्रिया पर खड़ा करते हैं। उनका कथन है कि वेदान्त में विवर्त्तवाद, सांख्य में परिणामवाद और न्याय-वैशेषिक में आरम्भकवाद है। परन्तु यह झगड़ा व्यर्थ का है और नवीनों द्वारा कल्पित किया गया है। विवर्त्तवाद सृष्टि रचना का कोई प्रकार ही नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए यह वाद खड़ा किया गया है जिस प्रकार रस्सी में सर्प का विवर्त्त है परन्तु इस वाद वालों को ज्ञात होना चाहिए कि इस वाद में कार्यकारण का नियम बनता ही नहीं। कार्यकारण का नियम यह है कि कारण-गुणपूर्वक कार्य गुण होते है और कार्य का अपने कारण में लय होता है। सर्वत्र उपादान की प्रक्रिया में ऐसा ही पाया जायेगा। परन्तु विवर्त्तमें यह नहीं बनता। रस्सी के स्थान में सर्प बैठा देना अथवा किसी दूसरी वस्तु के स्थान में अन्य वस्तु बैठाना—यह सृष्टि की रचना नहीं है। जगत् के जिस मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए यह वाद खड़ा किया गया है वह भी इससे सिद्ध नहीं होता। न तो रस्सी भ्रम एवं

१—सांख्य० १। ६१

२—त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च। वे० ३। १। ६

मिथ्या है और न उनमें जो प्रतीत हो रहा है वह भी मिथ्या नहीं। जब ब्रह्म के ज्ञान में इनका अस्तित्व बना और हर कल्प में ये ऐसे ही प्रकट होते हैं तो मिथ्या किस प्रकार हैं।

रह जाते हैं आरम्भक और परिणामवाद। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दही जब जमता है तब चाहे हम यह कह दें कि दूध में दही का परिणाम हुआ अथवा यह कह दें कि विकार प्राप्त दुग्धगत परमाणुओं में से दही का आरम्भ हुआ। दोनों एक ही बात हैं। घी के पिघलने और जमने में भी चाहें हम आरम्भ माने या परिणाम, बात दोनों एक सी ही हैं। रबड़ के एक टुकड़े को खींचने पर वह बड़ा हो जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि रबड़ के परमाणुओं ने इतने बड़े रबड़ का आरम्भ कर दिया अथवा यह भी कह सकते हैं कि रबड़ के टुकड़ें में छिपे हुए इस बड़े आकार का उसने परिणाम कर दिया। वस्तुतः दोनों में एक ही बात पायी जाती है। कोई भेद नहीं। इस दृष्टि से भी दर्शनों में समन्वय ही है।

तीसरे प्रकार से समन्वय की सरणि यह है कि दर्शनशास्त्र के कुछ मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। उन विषयों में छः दर्शनों का परस्पर कोई विरोध है ही नहीं। नीचे की तालिका इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है।

१—वेद की स्वतः प्रमाणता और उससे ही दर्शन विज्ञान की प्रेरणा का होना।

२—वेदों के अध्यात्मिक और धर्म सम्बन्धी विचारों पर तार्किक गवेषणा सब में पायी जाती है।

३—सभी दर्शन संशयवाद और भ्रमवाद तथा अभाव का निराकरण करके तत्वात्मक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं

तथा सृष्टि में एक सामंजस्य मानते हैं। तथा इसका अन्तिम उद्देश्य भी स्वीकार करते हैं।

४—मीमांसा में प्रत्यक्ष इसका वर्णन नहीं है परन्तु शेष सभी दर्शन जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और सृष्टि-प्रवाह की अनादिता को स्वीकार करते हैं।

५—निःश्रेयस एवं मोक्ष को सभी मानते हैं।

६—भाव से भाव की उत्पत्ति तथा प्रकृति एवं परमाणु के रूप में जगत् के उपादान कारण को स्वीकार करते हैं।

७—आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को सभी ने माना है।

८—संख्या में अन्तर भले ही हो परन्तु प्रमाण को सभी स्वीकार करते हैं।

९—जीवात्मा अपने कर्मानुसार फल को भोगता है, भिन्न-भिन्न जन्मों को धारण करता है—आदि में सभी का ऐकमत्य हैं।

१०—इन्द्रियों के विषय में सभी एकसा विचार रखते हैं।

११—जीव और ईश्वर का भेद तथा जीव अनेक हैं—यह लगभग सभी को स्वीकार है।

१२—पाप और पुण्य के विषय के विचार परस्पर एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।

इस प्रकार छः दर्शनों का परस्पर समन्वय पाया जाता है। चतुर्थ सरणि जो आचार्य दयानन्द के अनुसार दर्शनों के परस्पर समन्वय की है वह है सृष्टि रचना के छः कारणों को लेकर। यह वस्तुतः सर्वोत्तम सरणि हैं। सृष्टि की रचना में कर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है। बिना कर्म के सृष्टि बनना ही सम्भव नहीं। मीमांसा में ऋषि का कथन है कि इस कर्म का वर्णन है। ऋग्वेद दशवें मण्डल १३०वें सूक्त में वस्त्र के

द्वारा सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है। वहां पर सृष्टि रूपी वस्त्र को १०१ कर्मों से बनाया गया वर्णित किया है साथ ही एक मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि इस सृष्टि रूपी यज्ञ के साथ देव ऋषि=सप्त दिव्य तत्व अपने जानने के योग्य तद्-रूप प्रतिष्ठित ज्ञान से युक्त, छांदन एवं विस्तारक शक्ति से युक्त, और प्रमा=मान यथार्थ वस्तु रूप, जाति, आकृति, विशेष आदि भावों से युक्त हुए प्रकट होते हैं। और पूर्व कल्प में बर्ते गये सृष्टि रचना के मार्ग पर चलते हुए आगे सृष्टि के कार्यों को अपने में परिणत हुआ प्राप्त करते[1] हैं। मन्त्र का यह सारा भाव यज्ञ में भी अर्थान्तर करने पर घटेगा। यहां पर इनके दिखलाने का इतना ही तात्पर्य है कि यज्ञ विस्तार के द्वारा सृष्टि रचना के विस्तार का भी परिज्ञान होता है अतः मीमांसा में जो यज्ञों की व्याख्या की गई है उससे सृष्टि-रूपी यज्ञ की प्रक्रिया का भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। मीमांसा दर्शन धर्म का प्रतिपादन करता है। वह धर्म इस शास्त्र के अनुसार विधि प्रतिपादित है। वेद का सृष्टिगत पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध[2] है अतः वेद ही इस धर्म के

१—यो यज्ञो विश्वतन्तुभिस्ततः एकशतं देवकर्मभिरायतः ॥
ऋ० १० । १३० । १

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृताः सहप्रमा ऋषयः सप्तदैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥
ऋ० १० । १३०

२—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्य-तिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।
मी० १ । १ । ५

विषय में स्वतः प्रमाण है। धर्म दो प्रकार का होता है। पदार्थ धर्म, कर्ममय धर्म। पदार्थ धर्म का विशेष रूप से प्रतिपादन वैशेषिक आदि शास्त्रों में पाया जाता है। परन्तु कर्ममय धर्म का प्रतिपादन विशेषतया मीमांसामें किया गयाहै। कर्म का स्वेच्छा पूर्व होना और अनिच्छा पूर्व होना भी पाया जाता है। अनिच्छा पूर्वक होने वाले कर्म केवल शरीर आदि की रक्षा के लिए है,अतः उन्हें करने को आवश्यकता नहीं। मीमांसामें इसका वर्णन नहीं किया गया है। स्वेच्छा पूर्वक होने वाले कर्म इच्छा के साथ किये जाते हैं। इनमें विधि निषेध होता है। साथ ही कर्त्ता, कर्म और क्रिया इस तीनों के समन्वय से होता है। मनुष्य जिन यज्ञों को करने का विधान है। वे यज्ञ सृष्टि में एक अन्य ही प्रकार से चल रहे हैं। समस्त सृष्टि भी एक यज्ञ है। मनुष्य को परमात्मा की सृष्टि में चलने वाले यज्ञों की अनुकृति कर अपने यज्ञों का विस्तार करता है उसके यजति=यज्ञ, कर्म का सम्बन्ध देवता, द्रव्य, त्याग, क्रिया और उद्देश्य से युक्त है साथ ही इसमें राग लगा है। अतः उससे संस्कार एवं अदृष्ट उत्पन्न होते हैं और उनका फल होता है। अदृष्ट की स्थिति दो प्रकार की है एक प्रकार यह है कि कर्म से उत्पन्न संस्कारों से वासना बनती है जो अदृष्ट कहलाती है। उसी के अनुसार फल होते है। दूसरा प्रकार अदृष्ट का वह है जो निमित्त कारण की प्रक्रिया से पदार्थों में क्रिया प्रतिक्रिया उत्पन्न करता हैं अथवा पदार्थ का अपना स्वाभाविक कर्म है। सूई को जब चुम्बक आकृष्ट करता है तब इस आकर्षण को अदृष्ट कहा जाता। जल का अधोगमन और अग्नि का ऊर्ध्वगमन कर्म है। यह पदार्थ धर्म का कर्म। अतः कभी यह कर्म दिखलाई पड़ते हैं और कभी नहीं दिखलाई पड़ते हैं। विधिनिषेधात्मक यज्ञ

कर्म से उत्पन्न अदृष्ट का फल होता है परन्तु सृष्टि के निमित्त कारण परमेश्वर के द्वारा किये गये सृष्टि यज्ञ के कर्म सृष्टि-गत पदार्थों में क्रिया प्रतिक्रिया रूप अदृष्ट को उत्पन्न करते हुए भी पुरुष कर्म के अदृष्ट से होने वाले फल को नहीं लेते, क्योंकि उसमें राग नहीं है और कर्त्ता स्वयं आप्तकाम है। सृष्टि-यज्ञ में होने वाले इस कर्म से क्रिया प्रतिक्रिया, संयोग-विभाग विश्लेषण-संश्लेषण आदि होते हैं। इससे जगत् सदा गतिमान् रहता है। इसका नाम भी जगत् है जो चलने वाला है। यह गति कर्त्ता की है और उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्म करती हुई प्रवाहित पो रहा है। मीमांसा के यज्ञों के सम्बन्धी कर्म के अध्ययन से इस कर्म का संकेत मिलता है। अतः ऋषि का यह कहना कि मीमांसा सृष्टि के कर्म रूप कारण की व्याख्या करता है, सुतराम् ठीक है। मीमांसा के प्रतिपाद्य विषय धर्म का वेद से प्रतिपादित होना और वेद के पदों का सृष्टि के पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध स्थापित करना इस उद्देश्य की ही पूर्ति करते हैं।

महर्षि ने वैशेषिक में सृष्टि के दूसरे कारण काल की व्याख्या का होना लिखा है। वैशेषिक को देखने पर उसमें छः पदार्थों का प्रतिपादन मिलता है। फिर यह काल मुख्य प्रतिपादन का विषय है—यह कैसे सिद्ध हुआ ? वैशेषिक की आन्तरिक परीक्षा करने पर महर्षि का यह कथन सर्वथा ही सिद्ध कोटि में आवेगा। महर्षि के अतिरिक्त भी लोग वैशेषिक को कालवादी मानते थे। जैनियों के ग्रन्थ सुन्दर विलास के आत्मानुभव के १७वें अंग में

भी ऐसा वर्णन पाया जाता है कि वैशेषिक कालवादी[1] है।

वैशेषिक कर्मवादी दर्शन है। यह पदार्थ-धर्म और कर्त्तव्य-धर्म दोनों का ही वर्णन करता है। परन्तु पदार्थ धर्म का इसमें विशेष वर्णन है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय में द्रव्य, गुण और कर्म सत्तात्मक पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं, ये तत्वात्मक है। परन्तु सामान्य, विशेष और समवाय केवल सम्बन्ध (Relatiors) है। ये सम्बधातिरिक्त कोई वस्तु नहीं हैं। परन्तु सम्बन्ध का प्रतिपादन बिना वस्तु सत्ता के सम्भव नहीं, अतः वस्तु के साथ इसका प्रमाणीकरण वैशेषिक में किया गया है। द्रव्यों का वर्णन करते हुए भी पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को परिगणित किया गया है। यहां भी काल और दिशा को द्रव्य मानकर वैशेषिक ने अपनी विशेषता का प्रतिपादन किया है। वैशेषिक नाम ही विशेष को पदार्थ मानने से हुआ। अतः विशेष उसका मुख्य विषय हैं। ये सामान्य विशेष और समवाय बुद्धि की अपेक्षा रखते[2] हैं। जब तक अपेक्षा बुद्धि न पायी जावे, इनको प्रतीति होती नहीं। यह अपेक्षा बुद्धि तभी पायी जा सकती है और इनका परिज्ञान हो सकता है जब दिशा और काल का खेल वस्तु पर अपना प्रभाव रखता हो। दिशा केवल मूर्त्त पदार्थों पर अपना प्रभाव रखती है किन्तु काल अमूर्त्त अर्थात् बौद्ध प्रत्ययों पर भी अपना प्रभाव रखता है। दिशा का प्रभाव मूर्त्तता से मालूम होता है और काल का प्रभाव पदार्थ को

१—वैशेषिक प्रतिकालवादी है प्रसिद्ध सुन्दर विलास आत्मानुभव अंग १७

२—सामान्यं इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्। वे० १।२।३

जन्यता से ज्ञात होता है क्योंकि यह जन्य पदार्थों का जनक है। द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य आदि सम्बन्ध जब एक क्रम विशेष (एक आर्डर) में होते हैं तभी इनको हम जान सकते हैं। यह स्थिति और क्रम विशेषकाल के अन्दर होता है। अतः काल एक मुख्य कारण है वैशेषिक प्रक्रिया का। विशेष प्रतीति भी कार्य द्रव में होती है और वह भी काल की अपेक्षा रखती है। वैशेषिक की काल सम्बन्धी यह परिभाषा "नित्यों में न हो[1] और अनित्यों में पाया जावे अतः काल कारण है" इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। काल-जन्य मात्र का कारण है और वैशेषिक प्रक्रिया में इसका मुख्य स्थान है।

महर्षि सृष्टि के महत्वपूर्ण कारण उपादान कारण की व्याख्या न्याय में मानते हैं। न्याय दर्शन में वस्तुतः १६ पदार्थों का वर्णन है। परन्तु विश्लेषण करने पर ये सभी प्रमाण और प्रमेय में ही संगृहीत हो जाते हैं। तर्क-विद्या के वर्णन की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् वर्णन है। प्रमाण का विषय प्रमेय है जो प्रमाणों से सिद्ध होता है। शरीर. इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्रमेय हैं। इनमें से कुछ वास्तविक तत्व हैं और कुछ संयोगी अथवा क्रिया-जन्य धर्म है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि और मन तत्वात्मक हैं। बुद्धि आत्मस्थित है। शरीर इन्द्रिय, अर्थ

१—नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति।

वै० २।२।९

तथा

सर्वकार्याणां चोत्पत्ति स्थिति विनाशहेतुस्तद्द्रव्यशात्-प्रशस्तपाद

और मन आदि भूतात्मक हैं। मन उसी प्रकार भूतात्मक नहीं जिस प्रकार इन्द्रिय आदि हैं। इन भूतात्मकों का मूल कारण परमाणु है। वैशेषिक की भांति न्याय शास्त्र के अनुसार अवयवी एक पदार्थ है जो कि प्रत्येक कार्यद्रव्य में विद्यमान है। एकत्व प्रतीत और आकर्षण, धारण आदि उसकी वजह से है। यही प्रतीति का भी विषय है। कार्य द्रव्य केवल परमाणु समूह ही नहीं है। परमाणुओं के समूह में अवयवी एक विशेष पदार्थ है जो कारण के बहुत्व और कारण के महत्व के प्रचय विशेष से उत्पन्न है। यह अवयवी न अभाव है और न मिथ्या ही है। अवयवी पदार्थ का अत्यन्त अपवर्ग=विभाग करते समय जहां पर अवयव धारा की समाप्ति होती है वही परमाणु है। परमाणु अवयव तो हैं परन्तु वे अवयवी नहीं। फिर यह अवयव कार्य द्रव्यों में किस प्रकार आता है, न्याय में इसका विशेष विचार है। अवयवी परमाणुओं का प्रारम्भ होने से कार्य वस्तुओं में होता है। कारण द्रव्य में अवयवी नहीं है। कार्य में होने वाला यह अवयवी अपने कारणभूत परमाणुओं के आरम्भ से क्यों आता है। इसका कारण उपादानता का नियम है। निमित्त कारण कार्य को बनाता तो है परन्तु उसकी सत्ता, गुण आदि कार्य में नहीं आते हैं। उपादान का यह नियम है कि उसके गुण कार्य में आते हैं। अतः कार्यगत अवयवी उपादान-नियम के कारण कार्य में आता है। यही कारण है कि बिना उपादान के कोई भी कार्य बन नहीं सकता है। न्यायदर्शन में परमाणु की सिद्धि में अवयवी का अपकर्षण करते हुए अन्तिम अपकृष्ट अवयव को परमाणु कहते हैं—यह वर्णन उपादान के नियम का प्रत्यायक है। वस्तुतः यह उसका एक प्रधान विषय है।

योग में पुरुषार्थ की व्याख्या है। पुरुष का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है। वह लौकिक और कैवल्य भेद से दो प्रकार का है। यह पुरुषार्थ ज्ञान, विद्या और विचार के बिना नहीं सिद्ध होता है संसार में प्रकृति के तीनों गुण परमात्मा की निमित्तता से प्रवृत्त होकर विविध दृश्यों को उत्पन्न करते हैं। परन्तु प्रकृति के गुणों का इस प्रकार दृश्य में प्रवृत्त होने का कारण क्या है ? इसका उत्तर है कि पुरुषों के प्रयोजन ही कारण है। सृष्टि रचना के उद्देश्य में पुरुष का प्रयोजन छिपा है। जब यह प्रयोजन पूरा हो जाएगा तब प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के लिए नहीं होती है। सृष्टि करने का प्रयोजन पुरुष के कर्मों का फल देना और कैवल्य की प्राप्ति[1] है। परम पुरुष परमेश्वर के गुण, कर्म स्वभाव की सफलता का प्रकाश भी इसी मे होता है। इस प्रकार पुरुषार्थ सृष्टि का प्रयोजन है और योगशास्त्र में मुख्य रूप मे इसका व्याख्यान है।

सांख्य शास्त्र तत्वों के परिगणन और मेल की व्याख्या करता है। रचना का कार्य संयोग और विभाग के बिना नहीं हो सकता है। कहीं पर तत्वों का संयोग करना पड़ता है कहीं पर वियोग। विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया रचना का एक मुख्य अंग है। कोई भी विश्लेषण तब तक ठीक नहीं माना जा सकता जब तक यह संश्लेषण पर ठीक न उतर जावे। इस प्रक्रिया में तत्वों के मेल के अतिरिक्त अनुक्रम

१—भोकापवर्गार्थं दृश्यम्। यो० १। १८

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्।

यो० २। ६

(Order) को कारण से प्रारम्भ करके अन्तिम कार्य तक क्रमशः विचार किया जाता है। और कार्य से कारण की ओर चलते हुए विचार किया जाता है। सांख्य में तत्वों का अनुक्रम परिगणन करते हुए यही प्रक्रिया वर्ती गई है। सांख्य में सबसे बड़ा विस्तार गुणों का है। सत्व, रजस् और तमस् के विचित्र सम्मिलन से सृष्टि की सारी विचित्रता है। गुणों का सम्मिलन एक मात्र प्रधान विषय है जो सांख्य में प्रतिपादित किया गया है। राग-गुणों और विराग पुरुष के योग का नाम सृष्टि है, इस प्रकार यह सुतराम् ठीक ही है कि सांख्य में तत्वों के मेल का ही मुख्यतया प्रतिपादन है।

वेदान्त में जगत् के मुख्य निमित्त कारण जगत्कर्ता ब्रह्म का प्रतिपादन है। यह बहुत ही स्पष्ट बात है। वेदान्त के प्रथम चार सूत्र ही इस तथ्य को प्रतिज्ञा रूप में प्रकट करते हैं। वेदान्तदर्शन में यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि ब्रह्म के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वेदान्त जहां ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता बतलाता है वहां ज्ञान का भी कारण उसी को बतलाना है। कोई भी उपादान कारण जो स्वभावतः जड़ है उसमें निमित्त कारण चेतन ब्रह्म के बिना क्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती। बिना क्रिया और ज्ञान के प्रकृति, परमाणु, आदि उपादान कारण जगत् का उत्पादन नहीं कर सकते हैं। स्वभाव की भी कारणता का वेदान्त में खण्डन है। क्योंकि जड़ वस्तु में बनने और बिगड़ने का दो

विरोधी स्वभाव अपने आप नहीं हो सकता है यदि स्वभाव नियन्त्रित रहे तो फिर जिसके नियन्त्रण में है उसे निमित्त कारण ब्रह्म कहा जाता है। यदि नियन्त्रित नहीं है तो सदा बनना अथवा बिगड़ना बना ही रहेगा और साथ ही दो विरोधी स्वभावों का संघर्ष होने से कुछ भी बनना बिगड़ना असम्भव हो जावेगा। ब्रह्म की ज्ञानमयी क्रिया से प्रकृति का सृष्टि रूप में परिणाम होता है। इस प्रकार वेदान्त ब्रह्म की व्याख्या करता है।

छः दर्शनों में सृष्टि के छः कारणों की व्याख्या की गई है। यह दिखलाया गया है। इसी आधार पर छः दर्शनों का परस्पर समन्वय है। यही महर्षि का दृष्टिकोण है।

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तने चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

सार्वदेशिक प्रेस, नई दिल्ली-२